बुनियादी तालीम में मेरा सफर

दयाल चंद्र सोनी

गत अंक में हमने जाना कि स्व. दयाल चंद्र सोनी ने 17 वर्ष की अवस्था में बिना किसी प्रशिक्षण के बुनियादी तालीम के मदरसे में बुनियादी तालीम पर प्रयोग करने का चुनौतीपूर्ण काम हाथ में लिया और कैसे उन्होंने अपनी सूझबूझ व प्रयोगधर्मिता के आधार पर मजबूती के साथ बुनियादी तालीम का ढांचा खड़ा किया। इस काम में उन्होंने कई चुनौतियों का सामना करते हुए बुनियादी तालीम के अर्थ को गढ़ने व समझने की कोशिश की। इसी क्रम में प्रस्तुत है आगे की कहानी ...

सन् 1945 में विद्या भवन के अधिकारियों ने मुझे बुनियादी शिक्षा का काम देखने के लिए ई. डब्ल्यू. आर्यनायकम् तथा आशादेवी आर्यनायकम् के पास सेवाग्राम भेजा। मेरे सौभाग्य से महात्मा गांधी का कार्यक्रम भी कुछ ऐसा बना कि वे भी उन दिनों सेवाग्राम में आ गए और दस दिनों तक मुझे उनका सान्निध्य भी मिल पाया। मेरी उनसे रूबरू बात तो नहीं हुई पर किसी और बहाने से बुनियादी शिक्षा विषय में उनसे बोध पाने का अवसर मुझे प्राप्त हो गया। खास बात जो मैंने सेवाग्राम में देखी तथा सीखी वह यह थी कि जो लोग वहां बुनियादी शिक्षा का प्रशिक्षण ले रहे थे, वे हाथ से चक्की चलाकर अनाज भी पीसते तथा अपने शौचालयों को स्वयं साफ करते। हरिजन, चपरासी, क्लर्क वगैर का काम वहां देखने में नहीं आया। सेवाग्राम से विनोबाजी का पवनार आश्रम दूर नहीं था तो विनोबाजी से मैंने बुनियादी शिक्षा पर बातें भी की। इस यात्रा से जब मैं लौटा, तो मैंने अपने स्कूल में ''नियोजित सेवा'' अथवा ''एलॉटेड सर्विसेज'' के नाम से एक नई योजना शुरू की, जिसका भावी लक्ष्य यह था कि स्कूल में ''पीयोन'' या चपरासी नाम का व्यक्ति न रहे और यथा संभव कलर्क रूपी कार्यकर्त्ता से भी छुट्टी मिल जाए। पीयोन या चपरासी तथा कलर्क लोग स्कूल में जो काम करते हैं, उन कामों में तो शिक्षा प्राप्ति की दृष्टि से कई संभावनाएं भरी हुईं हैं। तो कलर्क एवं चपरासी लोग न केवल स्कूल से पैसा लेते हैं बल्कि बच्चों या विद्यार्थियों की ठोस शिक्षा के अवसर भी छीन लेते हैं।

इन बातों को सोचकर हमने हर कक्षा में एक नए विषय का शिक्षाक्रम जोड़ा जिसका नाम ऊपर कहे मुताबिक ''नियोजित सेवा'' रखा गया। कौन सी कक्षा पूरे स्कूल के लिए कौन सी जिम्मेदारी उठाएगी, इसका निर्णय या दायित्व विभाजन किया गया। पीरियड्स की घंटी बजाना, कृषि के औजार संभालने का दायित्व, कताई के लिए रूई—पूनी सप्लाई का काम, स्टेशनरी की छोटी दुकान चलाने का काम, पुस्तकालय संभालने का काम, वाचनालय संभालने का काम, मध्यांतार में नाश्ता बांटने का काम, कुएं से पानी खींच कर सारे स्कूल के लिए पानी भरने का काम, प्रार्थना सभा के लिए जाजम

बिछाने का काम, स्कूल शुरू करने से पहले कमरों में झाड़ू लगाने और स्कूल परिसर की सफाई का काम, कृषि के लिए बीज भंडार संभालने का काम, ऐसे सारे काम अलग–अलग कक्षाओं की जिम्मेदारियां बनाकर बांट दिए गए। बेशक, चपरासी एवं कलर्क से पूरी तरह छुटकारा तो नहीं मिला, परंतु स्कूल की व्यवस्था में विद्यार्थी न केवल आत्मनिर्भर हुए बल्कि दायित्वनिर्वाह की शिक्षा का एक नया आयाम उनकी शिक्षा में जुड़ गया। इससे यह बात समझ में आई कि शिक्षा पाने के लिए जीवन की जिम्मेदारियों से जुड़ना तथा उन जिम्मेदारियों को निभाना शिक्षा में बाधा नहीं बल्कि शिक्षा में सहायक है।

एक नया प्रयोग यह किया कि पूरे कार्य वर्ष के कुल 240 दिन निश्चित कर दिए गए। साप्ताहिक छुट्टी, त्योहारों की छुट्टी तथा गर्मियों की छुट्टी के दिन कुल मिलाकर 125 या 126 ही हो सकते थे। इन 240 कार्य दिवसों को तीस–तीस कार्य दिवसों में कुल आठ कार्यमासों में बांटा गया ताकि हर कार्यमास की अवधि छुट्टियों को निकालकर के बराबर हो, तो स्कूल की सभी कक्षाओं का पाठ्यक्रम बराबर की आठ इकाइयों में बांटा गया। इसके लिए कक्षाओं के हाजिरी रजिस्टर ऐसे विशेष बनाए गए, जिनमें महीने जनवरी, फरवरी वाले नहीं रहें। रजिस्टर में दो प्रकार से तारीखें चलती थीं, जिससे पता चले कि आज कैलेंडर की तारीख कौनसी है और आज स्कूल के किस कार्यमास का कौनसा कार्यदिवस है। इस कार्यमास व्यवस्था में एक बात यह तय की गई कि कार्यमास में 28 कार्यदिवस तो कक्षा शिक्षण को मिलेंगे जिसके बाद 29 वें कार्यदिवस को पूरे स्कूल की बैठक होगी, जिसमें हर कक्षा महीने भर की अपनी नियोजित सेवा के कार्य की रिपोर्ट पेश करेगी और हर तीसवें दिन स्कूल तो बंद रखा जाएगा और हर कक्षा किसी न किसी जगह भ्रमणार्थ या आउटिंग के लिए जाएगी। ताकि उसका प्रकृति से या किसी ऐतिहासिक अथवा अन्य महत्त्वपूर्ण स्थान से परिचय हो और विद्यार्थी एवं शिक्षक एक दूसरे के ज्यादा निकट आ सकें।

नियोजित सेवा योजना एवं आठ कार्यमास योजना, जिसके अंतर्गत निजदायित्व निर्वाह की समीक्षा भी शामिल थी, एक बहुत उपयोगी प्रयोग साबित हुआ। इससे हमें बुनियादी शिक्षा के एक नए स्वरूप के दर्शन प्राप्त हुए। हमने देखा कि बच्चे अपनी शिक्षा स्वयं करने में या स्वयं चलाने में दक्ष हो रहे हैं और वे अपने जीवन को एक ऐसी शैली में जीना सीख रहे हैं कि वे स्कूल के बाहर तथा शिक्षकों के बिना अपनी जीवन प्रक्रिया को एक संयुक्त शिक्षण प्रक्रिया बना सकेंगे। शिक्षा वही श्रेष्ठ है, जो शिक्षा प्राप्त करने की कला में विद्यार्थी को भविष्य के लिए आत्मनिर्भर बना दे, ताकि स्कूल के बाहर तथा शिक्षक के बिना मनुष्य की जीवनशैली स्वयं उसकी आजीवन शिक्षा करती रहे। इस विषय में मेरे निवास स्थान उदयपुर की मेवाड़ी बोली में दो पंक्तियां इस प्रकार हैं–

विद्यालयां रो आसरो चिरकाल तक संभव नहीं।

जो आत्मशिक्षण री कला खुद सीख ले शिक्षित वही।।

बुनियादी शिक्षा में उद्यम तथा उससे होनेवाली कमाई की बात सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में बुनियादी शिक्षा की मूलयोजना में एक बात यों लिखी गई थी कि विद्यार्थियों के उद्यम से जो शुद्ध लाभ होगा या शुद्ध कमाई होगी, उससे शिक्षकों के वेतनों का खर्चा निकलने की भी संभावना है। कुछ वर्षों तक बुनियादी शिक्षा में काम करने के बाद मुझे बुनियादी शिक्षा के इस खयाल पर कुछ ऐतराज होने लगा। मेरा एक ऐतराज तो यह होने लगा कि उद्यम में विद्यार्थी की फितरती दिलचस्पी तो जरूर है जैसाकि जाकिर साहब ने हमें हमारी ट्रेनिंग के दौरान सन् 1942 में समझाया था, पर

विद्यार्थी की यह दिलचस्पी उद्यम में तभी तक रह सकती है, जबतक कि उद्यम के परिश्रम का पहलू पूरा करने वाला विद्यार्थी उस परिश्रम से होने वाली कमाई का फल भी स्वयं ही चख सके। उद्यम में श्रम का पहलू तो विद्यार्थी अनुभव में लावे, लेकिन फल का पहलू उसे घर ले जाने के लिए न मिले और उसे स्कूल ही में रख लिया जाए तो उद्यम का यह अपूर्ण तथा खंडित अनुभव ही बच्चों को मिलेगा और तब उद्यम, उद्यम तो रहेगा, पर शायद वह बच्चे की रुचि का जीवंत केंद्र तो नहीं रह सकेगा। एक ऐतराज तो मुझे यह लगा, पर एक दूसरा ऐतराज भी मुझे लगा कि जब एक निर्धन परिवार का बच्चा स्कूल में आने लगता है, तो वह निर्धन परिवार बच्चे की उस श्रम सहायता से वंचित हो जाता है जो स्कूल में नहीं जाने की स्थिति में परिवार को अपने बच्चे से मिलती थी। अब परिवार के पास तो ऐसी कोई शक्ति या तरकीब नहीं है कि वह अपने बच्चे को स्कूल भेजने से होने वाले आर्थिक घाटे की पूर्ति कर सके। उधर सरकार के पास तो सत्ता है जो कि स्कूलों का खर्चा तथा शिक्षकों को वेतन जुटाने हेतु टैक्स लगा सके या टैक्स बढ़ा सके, तो इन दोनों दृष्टियों से मैंने अपनी संस्था के संचालक मंडल में यह प्रस्ताव रखा कि विद्यार्थियों के उद्यम से उस पर होने वाले स्कूल के खर्चे को निकाल कर जो शुद्ध लाभ या कमाई हो उसे स्कूल में रखने के बजाए विद्यार्थियों में ही वितरित कर दिया जाए यानी उस पर विद्यार्थियों का ही हक माना जाए। बेशक, मेरा यह प्रस्ताव बुनियादी शिक्षा योजना में निहित एक महत्त्वपूर्ण प्रावधान के विपरीत था, पर मेरे स्कूल के संचालक मंडल ने मेरे इस प्रस्ताव को खुशी से स्वीकार किया, जिस पर मैंने अपने स्कूल में अमल किया। शुद्ध कमाई का आंकड़ा पूरी कक्षा के लिए ही ज्ञात हो सकता था, जिसे कक्षा के छात्रों में व्यक्तिशः बांटने का आधार था विद्यार्थी की स्कूल में अपनी हाजिरी का अनुपात। बेशक, यह कमाई बहुत ज्यादा तो नहीं होती थी, फिर भी कुछ तो होती थी, जो बच्चों के लिए स्टेशनरी वगैरा खरीदने के काम आती थी। तो यह भी माता–पिता के लिए कुछ बचत का साधन तो था। तालीम सार्वजनीन नहीं हो पाने का मूल कारण यह है कि तालीम निर्धन बच्चों के लिए आर्थिक राहत नहीं है, क्योंकि आज की तालीम में कोई आर्थिक ताकत नहीं है। मजदूरी यद्यपि बदनाम है, पर वह निर्धन बच्चों के लिए एक राहत है। यदि हम तालीम को भी निर्धन बच्चों के लिए आर्थिक राहत बना दें, तो निर्धन बच्चे भी तालीम पा सकेंगे और तालीम सार्वजनीन हो सकेगी।

मेरा बुनियादी मदरसा सन् 1941 में शुरू हुआ। शुरू में कक्षा पहली खुली थी। धीरे–धीरे यह पहली कक्षा सातवीं कक्षा में पहुंच गई और सातवीं कक्षा गांधीजी की बुनियादी शिक्षा योजना की अंतिम कक्षा मानी गई थी। अब सवाल यह पैदा हुआ कि जो विद्यार्थी इस सातवीं कक्षा के बाद स्कूल जाना बंद करके अपने घर के पैतृक धंधे में तो नहीं लगे और आगे हाई स्कूल की नवीं कक्षा में भर्ती होना चाहें, उनका रास्ता कैसे खुले तथा कैसे साफ हो। हमारे चारों तरफ सारे स्कूल गैर बुनियादी थे। स्वयं हमारी संस्था का भी मुख्य विद्यालय तो गैर बुनियादी ही था। इन सारे गैर बुनियादी स्कूलों में उद्यम के बजाए अंग्रेजी भाषा की पूजा थी तथा उसी का वर्चस्व था और मेरे बुनियादी विद्यालय की तो समझ सात कक्षाओं में अंग्रेजी के नाम पर एबीसीडी भी नहीं सिखाई गई थी। सात वर्षों में पूरी शिक्षा में अंग्रेजी को कोई भी स्थान मिला नहीं था और शिक्षा का माध्यम केवल हिंदी ही रहा था। कुछ विद्यार्थी मेरे स्कूल में भी ऐसे जरूर थे जो कक्षा 7 पर ही अपनी शिक्षा समाप्त नहीं करना चाहते थे और आगे हाई स्कूल में भर्ती होना चाहते थे। तो इस समस्या पर हमने

विचार किया और हमने अपने विद्यालय में एक संयोजक कक्षा के रूप में आठवीं कक्षा भी खोली। इस कक्षा में उद्यम का विषय नहीं रखा गया, पर दूसरे स्कूली विषय रखे गए जिनमें एक नया विषय अंग्रेजी भाषा का भी शुरू किया गया। अब सवाल यह था कि दूसरे स्कूलों में तो अंग्रेजी शिक्षण यदि पहली दूसरी में नहीं, तो तीसरी कक्षा से तो शुरू हो ही जाता है। इस प्रकार नवीं कक्षा में भर्ती होने वाला विद्यार्थी कम से कम छः वर्षों तक अंग्रेजी पढ़ कर नवीं कक्षा में भर्ती होता है। तो मेरा विद्यार्थी केवल एक ही वर्ष तक इस संयोजक कक्षा अथवा ''लिंक क्लास'' में अंग्रेजी पढ़ कर आठवीं कक्षा के छात्र के समान स्तर पर अंग्रेजी ज्ञान कैसे प्राप्त कर पाएगा।

पर मैंने हिम्मत नहीं हारी तथा खुद ही अंग्रेजी को हिंदी के माध्यम से पढ़ाने के लिए एक पाठ्यक्रम की रचना कर डाली तथा उस पाठ्यपुस्तक के आधार पर मैंने अपनी उस संयोजक कक्षा अथवा लिंक क्लास को अंग्रेजी पढ़ाई। इस लिंक क्लास में मेरे द्वारा रचित हिंदी के माध्यम से अंग्रेजी पढ़ाने वाली पाठ्यपुस्तक से अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त करके मेरा एक विद्यार्थी हमारी बड़ी संस्था विद्या भवन के ही पुराने हाई स्कूल की नवीं कक्षा में भर्ती होने गया। इस स्कूल की नवीं कक्षा में भर्ती होने के लिए कई विद्यार्थी दूसरे मिडिल स्कूलों से छः छः वर्षों तक अंग्रेजी पढ़ कर भी आए थे। विद्या भवन के हाई स्कूल में भर्ती चाहने वाले विद्यार्थियों की जो जांच उनकी भर्ती के पूर्व की गई उसमें मेरे स्कूल का विद्यार्थी अंग्रेजी ज्ञान में प्रथम स्थान पर रहा। इस घटना से यह सिद्ध होता है कि यदि हम एक भाषा में ठीक तरह से, उस भाषा की व्याकरण के ज्ञान के साथ, दक्ष हो जाते हैं तो उस भाषा की दक्षता का सहारा लेकर हम किसी भी दूसरी भाषा को आसानी से कभी भी सीख सकते हैं और उसके लिए आंगनवाड़ी या नर्सरी स्कूल से ही बच्चों को कृत्रिम अंग्रेजी संतानों का रूप देना बिलकुल भी जरूरी नहीं है। मैं सन् 1954 में भारतीय ग्राम शिक्षाविदों की एक टोली में तीन माह के लिए डेनमार्क में रहा। हमारे लौटने में केवल 15 दिन शेष थे। मैंने एक डिक्शनरी 'डेनिश टु इंग्लिश' वाली तथा दूसरी 'डिक्शनरी इंग्लिश टु डेनिश' वाली खरीदी और डेनिश वाक्य का विन्यास यानी सींटेक्स अंग्रेजी के वाक्यविन्यास यानी सींटेक्स को एक समान जान लेने के बाद श्रवण कुमार की कहानी डेनिश भाषा में लिख दी तथा डेनिश इंटरनेशनल फोक हाई स्कूल एल्सिनोर ने हमारी विदाई का जो समारोह रखा, उसमें मैंने वह कहानी पढ़कर सुनाई, जिसके प्रथम दो वाक्य तो मुझे आज भी याद हैं। वे वाक्य थे ''इ गेम्ले डेए डर लीव्ड एन उंग ड्रेंग इ' इंडियन व्हिस नाउन वार श्रवण कुमार। हैन्स फॉर एल्ड्रे वार गेम्ले ऑ। ब्लीने।'' यानी ''इन ओल्डन डेज देयर लिव्ड ए यंग बॉय इन इंडिया हूज नेम वॉज श्रवण कुमार। हिज पेरेंट्स वर ओल्ड एण्ड ब्लाइंड।'' तो मुझे जो सबक मिला वह यह था कि कक्षा 7 तक की हमारी राष्ट्रीय शिक्षा पर से यदि अंग्रेजी का हिमालयी भार हाट दिया जाए तो हमारे कोमल आयु के बच्चों की जो अपार शक्ति अंग्रेजी पर खर्च होती है, उसे बच्चों की रुचि के उद्यम सीखने में लगाया जा सकता है और बाल्यजीवन को अंग्रेजी के टेंशन से मुक्त किया जा सकता है। लेकिन सुनेगा कौन, मानेगा कौन। आज तो ऐसा लगता है कि यदि शिक्षा पर अंग्रेजी का वर्चस्व नहीं रहा तो भारत की शिक्षा विधवा हो जाएगी। आज अंग्रेजी रहित शिक्षा की तो कल्पना तक नहीं की जा सकती है। शिक्षा का मतलब हो गया है अंग्रेजी। मेरा नम्र निवेदन देश के कुलीनतावादी या एलीटिस्ट वर्ग से यह है कि अंग्रेजी को शिक्षा का पर्याय अथवा ईक्वीवेलेंट बना देना आपको खूब–खूब मुबारक हो, लेकिन खुदा के वास्ते देश की आम जनता पर तो रहम

खाइए और इसी इंग्लिश रूपी शिक्षा को आम जनता पर थोपने से तो बाज आइए। तालीम का स्वरूप यदि इतना अंग्रेजीमय रखना है जितना ब्रिटिश राज्य में मैकॉले तक ने नहीं सोचा था, तो खुदा के वास्ते संविधान की धारा 45 को रद्द करके तालीम को सार्वजनीन बनाने की जिद छोड़ दीजिए। स्कूलों में भर्ती हुए बिना ही हमारी जनता शिक्षित होती रही है और भविष्य में भी होती रहेगी। शिक्षा स्कूलों की मुहताज बिल्कुल नहीं है और शिक्षा पर स्कूलों की कोई ठेकेदारी या मोनोपोली नहीं है। उदयपुर की स्थानीय मेवाड़ी बोली में इन पंक्तियों पर गौर फरमाइए—

प्रातःकाल व्हठे भी व्है है जठे कुकड़ों नहीं बोले।
और व्हठे भी व्है है शिक्षा जठे स्कूल थूं नीं खोले।।

मैं स्कूल का विरोधी नहीं हूं। मैं तो स्कूल का समर्थक हूं, पर यदि स्कूल की शिक्षा को लोकवादी नहीं बनने देने का और उसके स्वरूप को कुलीनतावादी ही रखने का दुराग्रह कायम रखना है,तो आम जनता को खुदा के वास्ते अशिक्षित रहने की छूट तो दे दीजिए। खैर, इस प्रसंग को फिलहाल यहीं छोड़कर हम आगे बढ़ेंगे और उसके बाद शीघ्र ही मैं अपने इस तालीमी सफरनामे को समाप्त करूंगा।

एक बार ऐसा हुआ कि विद्या भवन के दूसरे स्कूल के प्रधानाध्यापकजी को मैंने अपने स्कूल में इसलिए भाषण देने हेतु बुलाया कि वे एक वर्ष तक इंग्लैंड में ऊंची शिक्षा लेकर लौटे थे। इन प्रधानाध्यापकजी ने अपने भाषण में एक बात यह कही कि इंग्लैंड में उन्होंने कुछ छोटी दुकानें ऐसी देखीं जिनमें फुटकर सामान रखा था तथा हर सामान की बिक्रीदर लिखी हुई थी। पैसों की या गल्ले की पेटी भी रखी हुई थी, पर दुकानदार नहीं था। जनता इन दुकानों से सामान स्वयं लेती और बिक्रीदर की सूची के मुताबिक सामान का मूल्य दुकान के गल्ले में खुद ही डाल देती। इंग्लैंड की आम जनता में कितनी ईमानदारी है, इसका एक एक ज्वलंत उदाहरण था। एक शिक्षक की हैसियत से जब मैंने विचार किया, तो मुझे कुछ ऐसा लगा कि अगर मैं अपने विद्यार्थियों को ईमानदार बनाना चाहता हूं, तो मुझे अपने विद्यार्थियों पर शक और शुबहा करना तो छोड़ना होगा और उन पर विश्वास करने की हिम्मत तथा जोखिम भी उठानी होगी। मेरे मन में आया कि यदि ईमानदारी के कारण मैं किसी का विश्वास करता हूं तो इसकी उलटी बात भी सही है कि जिस पर विश्वास किया जाता है वही ईमानदार बनेगा। हम केवल झूठ या बेईमानी को ही कोसते हैं और उन्हीं को पाप मानते हैं, हम अविश्वास और शक को न तो कोसते हैं और न ही उसे पाप मानते हैं। शासक और पुलिस के लिए यह ठीक हो सकता है, पर शिक्षक के लिए यह ठीक नहीं है। जैसे शरीर की बीमारियों का इलाज अस्पतालों में होना चाहिए वैसे ही नैतिक बीमारी का इलाज स्कूल रूपी हॉस्पीटल में होना चाहिए और उसकी जो थेरापी या चिकित्सा है, वह है विद्यार्थी को विश्वास का वाष्पस्नान कराना। ऐसा एक अहसास मुझे हुआ और मुझे शिक्षा शास्त्र का एक नया सबक सीखने को मिला। इस पर मैंने एक छोटा सा प्रयोग किया जो इस प्रकार का था। एक दिन मैंने स्कूल की प्रार्थना सभा में कहा— ''देखो भाई, उस खिड़की में मैंने एक दुअन्नी रख दी है। आप में यदि कोई विद्यार्थी उसे चुराना चाहे तो चुरा ले। मैं कल दूसरी दुअन्नी रख दूंगा। मैंने जब यह प्रयोग शुरू किया तो शुरू शुरू में एक दो माह तक तो रोज ही वह दुअन्नी गायब होती रही, पर धीरे—धीरे उस दुअन्नी को गायब होने में दो चार दिन लगने लगे, उसके बाद आठ दस दिन लगने लगे और उसके बाद महीनों तक दुअन्नी पड़ी रहने लगी और उसे उठाना लगभग बंद हो गया। बाद में तो वह दुअन्नी ऐसे मौकों पर गायब होती कि तब किसी कारण से सारे स्कूल में कोई

जलसा या विशेष कार्यक्रम होने से माहौल उखड़ा उखड़ा सा बन जाता। मैंने महसूस किया कि छात्र का विश्वास करना ही छात्र को सम्मान देना है। यदि शिक्षक अपने छात्र का विश्वास करने की जोखिम नहीं उठा सके या इसकी हिम्मत नहीं रख सके, तो विद्यार्थी में आत्म सम्मान पैदा नहीं होगा और यदि विद्यार्थी में आत्मसम्मान पैदा नहीं होगा तो उसमें ईमानदारी पैदा नहीं होगी। बुनियादी तालीम में उद्यम को मुख्य स्थान है। बुनियादी तालीम में वस्तुएं बनती हैं, खेती के काम में सब्जी पैदा होती है, फल उगते हैं। इसमें चोरी का भी मौका है, ईमानदारी रखने का भी मौका है। उसमें ईमानदारी पर कोरा भाषण तथा कोरा कविता पाठ या हरिश्चंद्र का कोरा नाटक नहीं है। उसमें चोरी का भी अवसर है और चोरी के लोभ को रोकने के अभ्यास का भी प्रत्यक्ष अवसर है। विद्यार्थी को पता है कि वस्तु या फल के पीछे कोई मेहनत है, कोई पसीना है, कोई रखवाली तथा हिफाजत की साधना है जिसका उसे स्वयं अनुभव है तो ईमानदारी का संस्कार ऐसी स्थिति में ही पड़ सकता है। गांधीजी ने बुनियादी तालीम निकाली और उसे शिक्षा में अहिंसक क्रांति का नाम दिया। अहिंसा मूलतः क्या चीज है? मैं तो ईमानदारी को ही सब से बड़ी अहिंसा मानता हूं। सत्य को मारना, सत्य का गला घोंटना, कपट तथा चोरी करना, रिश्वत लेना, सबसे बड़ी हिंसा यही है। बेशक किसी की शारीरिक हत्या करना भी हिंसा है, पर मूलतः हिंसा हमारे झूठ कपट और भ्रष्टाचार में समाई हुई है जिसका निवारण पुलिस के थानों द्वारा नहीं बल्कि शिक्षकों के विद्यालयों से ही संभव है, बशर्ते कि स्कूल अपनी एक काल्पनिक दुनिया में न रहे जहां परिश्रम, पसीना और उत्पादन तो सर्वथा वर्जित हों और बिन उपजाए खाने और बौद्धिक विलास में डूबे रहने की शेखी हो।

तो इस प्रकार बुनियादी तालीम में मेरा सफर चल रहा था, मेरे प्रयोग भी चल रहे थे। पर सन् 1947 में हमारा देश आजाद हो गया और जो गांधी अंग्रेजों के राज्य में सुरक्षित रहकर गांधीवाद को फैलाता रहा था, उसकी शारीरिक हत्या भी आजाद भारत में हुई जो किसी सिरफिरे ने की थी और उसकी उसूली या सैद्धान्तिक हत्या भी आजाद भारत में हुई जो किसी सिरफिरे ने नहीं की बल्कि वह हत्या देश के बौद्धिकों तथा देश के समझदारों ने की। सन् 1955–56 में मेरी तथा मेरे स्कूल की किस्मत बदल गई। एकदम बदल गई। पहले तो मुझे बेसिक स्कूल से हटाया गया। मेरे लिए यह एक बड़ा झटका था। मैंने कभी नहीं चाहा कि मेरा स्कूल से ट्रांसफर हो या मेरा कोई और ऊंचे पद पर प्रमोशन हो। मैंने अपने साथ हुए इस बर्ताव का विरोध किया। नतीजा यह निकला कि मुझे अनुशासनहीन माना गया और मुझसे माफी मांगने की तवक्को की गई। मेरे जमीर ने इसे नामंजूर किया। नतीजतन मुझे संस्था से निकाल दिया गया। बेशक, यह मेरे लिए एक विपत्ति थी, एक बदकिस्मती थी, लेकिन इस विपत्ति में मुझे एक प्रमाण ऐसा मिला जो मेरे लिए एक बड़े सुकून का बाइस है और जो बुनियादी तालीम की कामयाबी का भी सबूत है।

जब मेरा तबादला मेरे बुनियादी मदरसे से दूसरे बड़े स्कूल में किया गया, तब तो बुनियादी मदरसे के विद्यार्थियों के वालदेन कुछ समझ नहीं पाए और शांत रहे। पर जैसे ही उन्होंने सुना कि मुझे तो सेवाओं से निकाल दिया गया है, उन्होंने बुनियादी मदरसे में अपने बच्चों से हड़ताल करवा दी और उनकी प्रतिनिधी टोली मेरे पास आई। इस टोली ने मुझसे कहा, ''हम आपको पांच बीघा जमीन, जिसमें कुएं से सिंचाई का प्रबंध है, दे देंगे और एक गांव में हमारा पंचायत घर दे देंगे। हम इस बुनियादी मदरसे में अपने बच्चे नहीं भेजेंगे। हम आपको उठाकर ले जाएंगे और हमारे बच्चों की

तालीम आप ही करेंगे।'' पर मेरे सामने एक सवाल था कि मैं उसी संस्था का पूर्व छात्र था जिसने मुझे निकाला था और वह बुनियादी मदरसा मेरे ही खून पसीने से सींचा गया था कि जिसका बहिष्कार मेरे विद्यार्थियों के माता–पिता कर रहे थे। इस धर्म संकट में मैंने उन्हें समझाया कि वे मुझे धर्मसंकट से बचाएं और अपने बच्चों को उसी स्कूल में भेजते रहें। तो इस घटना का खास महत्त्व और खास निचोड़ क्या है? निचोड़ यह है कि जो वाल्देन मुझे सन् 1941–42 में यह कहते थे कि खेती और मेहनत मशक्कत तो हमारे घरों में ही मौजूद है और अगर स्कूल में भी वही खेती और मेहनत मशक्कत है तो हम अपने बच्चों को स्कूल क्यों भेजें, वे ही वालदेन सन् 1956 में यानी 15 वर्षों बाद यों बोल गए कि हम खेती सिखाने के लिए पांच बीघा सिंचित भूमि खुद देंगे और स्कूल के लिए आवश्यक परिसर तथा घर भी खुद देंगे, पर हमारे बच्चों की तालीम तो वही होनी चाहिए जो आपने चलाई तथा आपने दी। तो बुनियादी तालीम के लिए इससे बड़ा या इससे बढ़कर प्रमाणपत्र ग्रामीण जनता की तरफ से क्या हो सकता है?

इस घटना को कई बरस बीत गए। मेरे निष्कासन पर पैदा हुई आपसी कटुता धीरे–धीरे समाप्त हो गई। एक दिन मेरी संस्था के एक बड़े जिम्मेदार अधिकारी के साथ मेरे बुनियादी मदरसे का फिर से जिक्र छिड़ गया तो प्रसंगवश मेरे मुंह से यह बात निकली कि बुनियादी तालीम का प्रयोग तो बेशक कामयाब साबित हुआ। तो सहज रूप से उन साहब के मुंह से यह निकला कि ''तुमने यह कैसे मान लिया कि बुनियादी तालीम को कामयाब साबित करने के लिए तुम्हें उस काम में लगाया गया?'' बेशक उन्होंने यह बात केवल मजाक में ही की थी। पर क्या यह एक सच्चाई नहीं है कि अगर सचमुच बुनियादी शिक्षा कामयाब हो जाती और चल निकलती तो देश में चल रहे बहुत से निहित स्वार्थों के लिए गंभीर संकट पैदा हो जाता।

मुझे बिलकुल साफ दिखाई देता है कि आजादी से पहले के जमाने में तो भारतीय जनमानस में ऐसी एक ललक जरूर थी कि मैकॉलेवादी सरकारी शिक्षा से अलग राष्ट्रीय चरित्रवादी और जनवादी शिक्षा का प्रयोग एवं प्रचार किया जाए। ऐसे जनमानस की वजह, उस जमाने में अनेक आदर्शवादी शिक्षण संस्थाएं हमारे पूरे देश में कायम हुईं और लोक समर्थन तथा लोक सहायता से चली थीं। उस समय मैकॉलेवादी राजकीय शिक्षा में गैर मैकॉलेवादी राष्ट्रीय शिक्षण को न तो रोका था और न समाप्त किया था। पर आज उसी मैकॉलेवादी शिक्षा का एक राजकीय रोडरॉलर देशभर में चल रहा है और देश की संपूर्ण शिक्षा की एक ऐसी लामबंदी या उसका ऐसा रजिमेंटेशन हो गया है कि जिससे अलग कुछ कर पाना तो दूर, कुछ सोच पाना भी दुर्लभ और कठिन है। राजनीतिक दृष्टि से यद्यपि हम आजाद हुए हैं पर शैक्षिक दृष्टि से देश की आजादी लुप्त सी हो गई है। राजनीतिक आजादी ने हमें इतना घेर लिया है कि शैक्षिक आजादी का प्रश्न ही हमारी निगाहों से ओझल हो गया है। इस प्रसंग में मैं अपने शहर उदयपुर की स्थानीय बोली में ये पंक्तियां पेश करते हुए अपना यह निबंध समाप्त करता हूं। आपने मुझे ध्यानपूर्व सुना उसके लिए आभारी हूं और यदि मैंने कुछ गलत कहा हो तो क्षमा मांगता हूं। वे चार पंक्तियां इस प्रकार हैं–

जनतंत्र यो नीं है कि जनता शासकां ने चुण सके।
जनतंत्र तो व्हो कि जनता शिक्षकां ने चुण सके।।
निज शिक्षकां रा चयन में जब लग प्रजा परतंत्र है।
तब लग कठे स्वातंत्र्य है, तब लग कठे जनतंत्र है?

स्व. दयाल चंद्र सोनी : विद्या भवन बुनियादी मदरसे के प्रथम प्रधानाध्यापक (1941) एवं प्रमुख गांधीवादी विचारक।
यह लेख दयालचंद्र सोनी द्वारा 1998 में लिखा गया था।